



## भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में पूँजीपति वर्ग की भूमिका: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. विश्वनाथ वर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर— प्राचीन इतिहास विभाग,  
हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी

### संक्षिप्त रूप

औपनिवेशिक शासन के दौरान 19वीं सदी के मध्य में भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ, उस समय भारतीय पूँजीपति विदेशी पूँजी पर निर्भर नहीं थे और न ही वे विदेशी पूँजीपतियों के स्थानीय एजेंट के रूप में काम करते थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से भारतीय पूँजीपति वर्ग धीरे-धीरे परिपक्व होने लगे थे और राजनीति में भी अपना प्रभुत्व जमाने लगे थे। पहले विश्वयुद्ध के अंत तक, विभिन्न कारणों से, पंजीकृत औद्योगिक उद्यमों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी। किंतु एक विस्तारित सामाजिक आधार से आए भारतीय उद्योगपतियों की नई पीढ़ी अधिक परिपक्व और अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए वे स्वयं को संगठित करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप 1887 में बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स और 1907 में बंबई में इंडियन मर्चेंट्स चैंबर का जन्म हुआ। बंबई के व्यापारी समूहों में सौदागर जहाँ अधिक राष्ट्रवादी थे, वहीं उद्योगपति सरकार के परंपरागत सहयोगी थे। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ उद्योगपति फले-फूले, वहीं विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव और भारी करों के कारण सौदागरों को हानि पहुँची। लेकिन 1922 के बाद बिगड़ती आर्थिक दशाओं के कारण और युद्धकालीन तेजी 1921-22 में समाप्त हो गई और 1920 के पूरे दशक के दौरान मंदी छाई रही। माल बिक नहीं रहे थे और उनके बड़े-बड़े भंडार अनबिके मालों से भरे थे, तो उधर मजदूरी भी बढ़ रही थी। आयातित धागों पर निर्भरता के कारण और लगभग उन्हीं दिनों भारतीय बाजारों में सस्ते जापानी मालों की बढ़ती प्रतियोगिता के कारण दाम और नीचे गिरने लगे, जिससे बंबई के सूती कपड़ा मिल-मालिकों की स्थिति बदतर हो गई। सरकार ने वफादारी के पुरस्कार के रूप में टिस्को (टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी) के हित में असेंबली में 'इस्पात संरक्षण विधेयक' (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पारित किया और हिंद-जापान समझौते के द्वारा बंबई के कपड़ा उद्योग को लाभ पहुँचाया। इस समझौते में भारत में जापानी मालों की बिक्री के लिए कोटे की व्यवस्था थी। लेकिन जिन लोगों ने कांग्रेस का साथ दिया था, वे जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण बौखलाए हुए थे। लेकिन इस बार भी लाल खौफ के कारण पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का हाथ नहीं थामा। समाजवाद पर अंकुश लगाने के लिए पूँजीपति वर्ग ने एक बहुमुखी रणनीति अपनाई और तय किया कि कांग्रेस के दक्षिणपंथियों— 'वल्लभभाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू' को संरक्षण दिया जाए, जो बिड़ला के शब्दों में, 'साम्यवाद और समाजवाद से लड़ रहे थे और गांधी के पीछे पूरी शक्ति लगा दी जाए। गांधीवादी भी कांग्रेस पर फिर से नियंत्रण प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों का समर्थन और उनसे वित्तीय सहायता पाने के लिए बेचैन थे।

इस तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग समाजवाद-विरोधी और बुर्जुआ तो था, पर वह साम्राज्यवाद का समर्थक नहीं था। पूँजीपतियों द्वारा संवैधानिक गतिविधियों, जैसे विधानसभा या वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् में हिस्सेदारी का मतलब यह नहीं था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का पिट्टू हो गया था या उसके सामने आत्मसमर्पण कर चुका था।

**शब्द कुंजी:** भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, पूँजीपति, राष्ट्रवादी, बिगड़ती आर्थिक दशाओं।

औपनिवेशिक शासन के दौरान 19वीं सदी के मध्य में भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ, लेकिन भारतीय पूँजीपति विदेशी पूँजी की बैशाखी पर नहीं चल रहे थे और न ही वे विदेशी पूँजीपतियों के स्थानीय एजेंट थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से भारतीय पूँजीपति वर्ग धीरे-धीरे परिपक्व और राजनीति में प्रभावशाली होने लगा था। पहले विश्वयुद्ध के अंत तक, विभिन्न कारणों से, पंजीकृत औद्योगिक उद्यमों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी।<sup>1</sup> भारतीय पूँजीपतियों ने कई क्षेत्रों में यूरोपीय एकाधिकार को तोड़कर और विदेशी आयात के बदले स्वदेशी का हिस्सा बढ़ाकर एक साधारण से औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया। 1920 के बाद नए क्षेत्रों में ज्यादातर पूँजी-निवेश भारतीय पूँजीपतियों का ही था। 1944 तक एक हजार से अधिक मजदूरों वाली बड़ी औद्योगिक ईकाइयों में लगभग 62 प्रतिशत पर और उनके श्रम-बल के 58 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का नियंत्रण था। छोटे कारखानों में भी, जिनका औद्योगिक क्षेत्र में भाग 95.3 प्रतिशत था, भारतीय पूँजी का निरपेक्ष नियंत्रण था।<sup>2</sup> यह विकासक्रम तब हुआ जब भारतीय पूँजी ने अभी तक विदेशी पूँजी द्वारा अविकसित क्षेत्रों में प्रवेश किया, जैसे शक्कर, कागज, सीमेंट, लोहा और इस्पात आदि में। भारतीय पूँजी उन क्षेत्रों में भी जा पहुँची, जिन पर अभी तक विदेशी पूँजी का कब्जा था, जैसे वित्त, बीमा, जूट, खदानों और बागान में। आजादी के आसपास हालात यह हो गए थे कि देशी बाजार पर 72-73 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का ही नियंत्रण था। संगठित बैंकिंग क्षेत्र की कुल जमाराशि का 80 प्रतिशत भारतीय उद्यमियों का था।<sup>3</sup>

भारतीय उद्योगीकरण में यह असामान्य प्रगति, उपनिवेशवाद की सहज परिणति नहीं थी, बल्कि उसके बावजूद हुई थी। भारतीय उद्योगपतियों की पिछली पीढ़ी विदेशी पूँजी पर बहुत अधिक निर्भर थी और वह औपनिवेशिक सत्ता का प्रभुत्व तथा उसकी भेदभावपूर्ण नीतियों को मानने के लिए तैयार थी। किंतु एक विस्तारित सामाजिक आधार से आए भारतीय उद्योगपतियों की नई पीढ़ी अधिक परिपक्व और अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए वे स्वयं को संगठित करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप 1887 में बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स और 1907 में बंबई में इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर का जन्म हुआ।

<sup>1</sup> द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86-123, पृष्ठ 87।

<sup>2</sup> आदित्य मुखर्जी 1986, दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास : आस्पेक्ट्स ऑफ इट्स इकोनॉमिक, पॉलिटिकल एंड आइडियोलॉजिकल डवलपमेंट इन दि कॉलोनियल पीरियड, 1927-47, इन सिट्टुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर, 239-87, पृष्ठ 245-46।

<sup>3</sup> बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 300।

## पूँजीपति वर्ग का राजनीतिक दृष्टिकोण

साम्राज्यवाद के सापेक्ष राष्ट्रवाद के प्रति भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण के सवाल पर इतिहासकारों में मतभेद है। एक ओर कुछ इतिहासकार मानते हैं कि साम्राज्यवाद के साथ एक अल्पकालिक निर्भरता और तालमेल का संबंध बनाए रखकर भी उसके साथ भारतीय पूँजीपति वर्ग का एक दीर्घकालिक अंतर्विरोध विकसित हुआ।<sup>4</sup> बाद में पूँजीपति साम्राज्यिक शोषण के अंत और एक राष्ट्र-राज्य के जन्म की कामना करने लगे, पर उनकी ढाँचागत कमजोरियों और उपनिवेशी सरकार पर उनकी निर्भरता ने उनसे समझौते के साथ दबाव के समन्वय की विवेकपूर्ण रणनीति मनवाई। वे एक राष्ट्रवादी आंदोलन के पक्ष में थे, लेकिन सुरक्षित और स्वीकार्य सीमाओं के अंदर, अतिवादी वामपंथियों के मार्गदर्शन में नहीं, बल्कि दक्षिणपंथी, नरमपंथियों के भरोसेमंद हाथों में। वे लोग संगठित मजदूरों, अतिवादी वामपंथ और जन-आंदोलन से डरते थे। किंतु इनसे सुरक्षा पाने के लिए उन्होंने साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण नहीं किया। उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन को संविधानवाद की राह पर लाने के लिए, दक्षिणपंथियों को संरक्षण देने और इस तरह कांग्रेस को 'पूँजीवादी वैचारिक वर्चस्व' में ढालने के लिए एक वर्गीय रणनीति का विकास किया।

पूँजीपतियों को एक सुस्पष्ट साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा से युक्त एक परिपक्व वर्ग मानने वाले इस दृष्टिकोण के विपरीत कुछ इतिहासकार समझते हैं कि राजनीतिक दृष्टि से भारत के व्यापारी समूह बहुत बड़ी सीमा तक निष्ठावान थे।<sup>5</sup> कहा गया है कि बंबई के व्यापारी समूहों में सौदागर जहाँ अधिक राष्ट्रवादी थे, वहीं उद्योगपति सरकार के परंपरागत सहयोगी थे।<sup>6</sup> लेकिन राष्ट्रवाद और कांग्रेस के प्रति भारतीय व्यापारियों के विभिन्न समूहों के राजनीतिक रवैयों में लंबे समय तक तालमेल और परिवर्तन भी दिखाई देता है। जहाँ तक उपनिवेशी अधिकारियों का सवाल है, भारतीय व्यापारी एक ही समय में 'सहयोग और विरोध' दोनों कर रहे थे और इसलिए उनके दृष्टिकोण का सुस्पष्ट 'सामान्यीकरण' करना संभव नहीं है।<sup>7</sup> दरअसल उद्योगपतियों की राजनीति, मुद्दों के जन्म लेने के समय उनके प्रति एक 'व्यवहारवादी दृष्टिकोण' से संचालित होती थी तथा वे (उद्योगपति) कांग्रेस और सरकार से 'समान दूरी' बनाए रखकर, इनमें से दोनों को दुश्मन बनाने या विमुख करने के डर से किसी की ओर भी झुकने से बचते रहते थे। इसलिए एक 'पूँजीवादी महारणनीति' की बात करना अतिशयोक्ति होगा।<sup>8</sup> इस प्रकार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय व्यापारी शायद ही एक 'निज-हेतु-वर्ग' (क्लास फॉर इटसेल्फ) थे। वे एक साथ नहीं चलते थे, उनके हित अलग-अलग थे, उनके विचारों में टकराव और रणनीतियों में अंतर्विरोध थे। इसलिए किसी सुसंगठित पूँजीवादी विचारधारा की या राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद के प्रति किसी राजनीतिक रणनीति की स्पष्ट पहचान करना संभव नहीं है।

<sup>4</sup> बिपिन चन्द्र 1979, नेशनलिज्म एंड कॉलोनियलिज्म इन मॉडर्न इंडिया, पृष्ठ 145।

<sup>5</sup> बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919-1939, पृष्ठ 319।

<sup>6</sup> ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918-1933, पृष्ठ 156।

<sup>7</sup> रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडिया: ग्रोथ एंड कॉन्फ्लिक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914-47, पृष्ठ 292।

<sup>8</sup> द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86-123, पृष्ठ 118।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ उद्योगपति फले-फूले, वहीं विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव और भारी करों के कारण सौदागरों को हानि पहुँची। दिसंबर 1920 में रुपया लुढ़क गया, जिसके कारण भारतीय आयातकों के लिए पिछले अनुबंधों पर लगभग 30 प्रतिशत के घाटे का खतरा पैदा हो गया, लेकिन इससे भारतीय निर्यातकों और मिल-मालिकों को लाभ मिला। युद्धकालीन भारी करों से सभी प्रभावित थे, लेकिन आयकर कानून में किए गए विशेष परिवर्तनों से देशी संयुक्त परिवारों के व्यवसायों को चोट पहुँची, क्योंकि उनकी लेखा-प्रणाली नए कानून के अंतर्गत आयकर के ब्यौरों को जमा करने की जरूरतों से मेल नहीं खाती थी।<sup>9</sup> यद्यपि सरकार की कर और मुद्रा-संबंधी नीतियों से मारवाड़ी और गुजराती व्यापारी दुःखी थे, किंतु उद्योगपति और बड़े व्यापारी इस बारे में कम चिंतित थे, क्योंकि सरकार भी उनका समर्थन पाने की जी-तोड़ कोशिशें कर रही थी। 1919 के मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार ने हितों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू की और इस प्रकार मजदूरों के साथ भारतीय उद्योग को भी केंद्रीय और प्रांतीय विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व दिया<sup>10</sup> इसके अलावा, 1919 की वित्तीय स्वतंत्रता संविदा (फिस्कल आटोनॉमी कन्वेंशन) और 1922 के बाद 'संरक्षणमूलक भेदभाव' की एक नीति के वादे ने संरक्षणवादी शुल्कों (टैरिफ्स) के लागू किए जाने की आशा जगाई।<sup>11</sup> इसलिए जब गांधीवादी जन-राष्ट्रवाद का आरंभ हुआ, तो उसके प्रति भारत के व्यापार-जगत की मिली-जुली प्रतिक्रिया रही।

#### गांधीवादी राजनीति की ओर झुकाव:

कुछ मारवाड़ी और गुजराती सौदागर और नए उद्यमी, जो बहुत अधिक धार्मिक थे, गांधीजी की ओर बहुत झुक गए क्योंकि उनमें उन्हें जैन और वैष्णव दर्शन का साझा आधार मिला। अहिंसा पर उनका बल किसी भी तरह के राजनीतिक गरमपंथ के मुकाबले आश्वस्त करता था और उनका 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत संपत्ति को वैध ठहराता था। इस तरह गांधीवादी विचारधारा भले ही पूँजीवादी हितों पर आधारित न हो, उसकी कुछेक धारणाएँ इन सौदागरों और उद्यमियों के लिए आकर्षक थीं। इस कारण गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उन्होंने सहर्ष योगदान किया तथा घनश्यामदास बिड़ला और जमनालाल बजाज जैसे कुछ बड़े उद्योगपति उनके घनिष्ठ सहयोगी बन गए।<sup>12</sup> यद्यपि अहमदाबाद के अंबालाल साराभाई जैसे मिल-मालिक 1918 की मजदूर-हड़ताल के दौरान गांधी की नेतृत्व-शैली से पूरी तरह खुश नहीं थे, फिर भी, भारतीय व्यापारियों को लगता था कि कांग्रेस को पूँजीवाद विरोधी बनने से केवल वे ही रोक सकते हैं।<sup>13</sup>

1919 में जब रोलट ऐक्ट-विरोधी सत्याग्रह शुरू हुआ तो उद्योगपति सशंकित रहे, लेकिन बंबई के व्यापारियों ने गांधी का जमकर समर्थन किया। अप्रैल में जब गांधी गिरफ्तार किए गए, तो बंबई में उद्योगों में हड़ताल रही। असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो कपास के सौदागरों ने बहिष्कार आंदोलन का फिर समर्थन किया

<sup>9</sup> ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स: राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918-1933, पृष्ठ 161-66।

<sup>10</sup> एस. भट्टाचार्य, 1986, दि कॉलोनियल स्टेट, कैपिटल एंड लेबर, बॉम्बे, 1919-1931, इन सिट्टुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर, 171-93।

<sup>11</sup> बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर: लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919-1939।

<sup>12</sup> रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडिया: ग्रोथ एंड कांपिलक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914-47, पृष्ठ 295-97।

<sup>13</sup> द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86-123, पृष्ठ 94।

और तिलक स्वराज्य कोष में जमकर दान दिया।<sup>14</sup> लेकिन दूसरी ओर अनेक उद्योगपति शांत रहे या जन-आंदोलन का सीधे-सीधे विरोध करते रहे। यही नहीं, बंबई में पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और आर.डी. टाटा ने एक असहयोग-विरोधी समिति का गठन भी कर लिया।

व्यापारी समुदाय में विभाजन बंबई में सर्वाधिक स्पष्ट था, जहाँ इंडियन मर्चेन्ट्स चैंबर पर उद्योगपतियों के वर्चस्व को दो बार चुनौती मिली; पहली बार 1920 में काँसिलों के बहिष्कार के प्रश्न पर और दूसरी बार 1921 में भारत आनेवाले प्रिंस ऑफ वेल्स को मानपत्र पेश करने के प्रश्न पर, जबकि कांग्रेस उसका बहिष्कार करना चाहती थी। स्पष्ट है कि सौदागर कांग्रेस के साथ थे और कांग्रेस को भी उनके समर्थन की जरूरत थी, क्योंकि उनके बिना बहिष्कार आंदोलन के सफल होने की संभावना कम ही थी।

लेकिन 1922 के बाद बिगड़ती आर्थिक दशाओं के कारण भारतीय व्यापारी समुदाय के प्रायः सभी हिस्से, सभी उद्योगपति, राष्ट्रवाद की ओर कुछ और आकर्षित हुए। युद्धकालीन तेजी 1921-22 में समाप्त हो गई और 1920 के पूरे दशक के दौरान मंदी छाई रही। माल बिक नहीं रहे थे और उनके बड़े-बड़े भंडार अनबिके मालों से भरे थे, तो उधर मजदूरी भी बढ़ रही थी। आयातित धागों पर निर्भरता के कारण और लगभग उन्हीं दिनों भारतीय बाजारों में सस्ते जापानी मालों की बढ़ती प्रतियोगिता के कारण दाम और नीचे गिरने लगे, जिससे बंबई के सूती कपड़ा मिल-मालिकों की स्थिति बदतर हो गई। 1920 और 1923 के बीच सूती मिलों के शेयरों के दाम तेजी से लुढ़के<sup>15</sup> जिससे अनेक उद्योगपतियों को घबराहट होने लगी। कपास पर 3.5 प्रतिशत आबकारी (इक्साइज ड्यूटी) के उन्मूलन के लिए उद्योगपतियों ने विधायिका में स्वराज्यवादियों से हाथ मिला लिया। दिसंबर 1925 में आबकारी समाप्त कर दी गई, लेकिन सूती मिल-मालिकों की समस्या दूर नहीं हुई; 1926 में 11 मिलें बंद हो गईं और 13 प्रतिशत मजदूर बेरोजगार हो गए। जनवरी 1927 में 'भारतीय शुल्क बोर्ड' की एक बहुमत की रिपोर्ट ने धागे छोड़ सभी सूती मालों पर आयात शुल्क को 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत करने की सिफारिश की, लेकिन लंकाशायर के उग्र विरोध के कारण भारत सरकार ने इस निर्णय को स्थगित रखा।<sup>16</sup>

1920 के दशक के दौरान लंदन के दबाव के कारण न केवल भारत सरकार भारतीय उद्योगपतियों की आर्थिक समस्याओं के प्रति संवेदनहीन थी, बल्कि कलकत्ता और बंबई, दोनों जगह विदेशी पूँजी के साथ उनके संबंध भी धीरे-धीरे बिगड़ रहे थे। दरअसल 1919 के सुधारों के बाद से ही अपने नस्ली अलगाव और अपनी स्वतंत्रता पर अड़े हुए ब्रिटिश पूँजीपतियों के रवैये अपने भारतीय बंधुओं के प्रति कड़े होने लगे थे, क्योंकि वे भारतीय राजनीतिज्ञों को या उद्योगपतियों को कोई भी छूट देने के पक्ष में नहीं थे।

1921 में यूरोपीय व्यापारी संगठनों ने 'एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' नाम से एक शीर्ष संगठन का गठन किया, इसके जवाब में भारतीय पूँजीपतियों ने 1927 में अपना एक संगठन 'फिक्की' (एफ.आई.सी.सी.आई.) बनाया, जिसके अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास थे। अब पूँजीपतियों ने अपने आर्थिक हितों के लिए राजनीति में घुसकर

<sup>14</sup> एस. भट्टाचार्य, 1976, कॉटन मिल्स एंड स्पनिंग हवील्स: स्वदेशी एंड दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास, 1920-22, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 20 नवंबर, 11(47): 1828-32।

<sup>15</sup> ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918-1933, पृष्ठ 176।

<sup>16</sup> बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919-1939, पृष्ठ 274।

सक्रिय भूमिका निभाने का फैसला किया। फिक्की के दूसरे अधिवेशन (1928) में अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ने घोषणा की कि, “हम अब अपनी राजनीति को अर्थनीति से अलग नहीं रख सकते।....भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए हैं। राष्ट्रीय आंदोलन जितना विकसित और मजबूत होगा, उसी के अनुपात में भारतीय वाणिज्य और व्यापार भी विकसित और मजबूत होगा।” बाद में 1930 में घनश्यामदास बिड़ला ने भी यही बात दोहराई। अब धीरे-धीरे भारतीय पूँजीपतियों ने अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करना शुरू कर दिया, यहाँ तक कि असमान उत्पादकता वाले देशों के बीच व्यापार के बारे में विनिमय असंतुलन बात भी उठाई।

इस चरण में कई कारणों से कांग्रेस और व्यापारियों की निकटता बढ़ी। एक, 1929 की भयंकर आर्थिक मंदी ने जब भारत का दरवाजा खटखटाया, तो ब्रिटिश सरकार ने अपनी खराब वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए मार्च 1930 में कपास संरक्षण कानून (कॉटन प्रोटेक्शन ऐक्ट) में कपास-संबंधी कर 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया, वह भी केवल गैर-ब्रिटिश मालों के लिए। साम्राज्यिक प्राथमिकता की इस व्यवस्था से भारतीय उद्योगपति नाराज हो गए और राष्ट्रवादियों ने उसका व्यापक विरोध किया; बिड़ला व ठाकुरदास समेत कई ने तो विधायिका से ही त्यागपत्र दे दिया। दूसरे, सरकार ने मनमाने ढंग से रुपए और स्टर्लिंग की विनिमय दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर तय कर दिया, जिसकी सिफारिश 1926 के हिल्टन-यंग आयोग ने की थी। यह ऊँची दर भारतीय आयातकों के विरुद्ध और भारत को निर्यात करने वाले अंग्रेजों के पक्ष में थी। तीसरे, सितंबर 1931 में ब्रिटेन स्वर्णमान (गोल्ड स्टैंडर्ड) से अलग हो गया, लेकिन रुपया 1 शिलिंग 6 पेंस की दर से स्टर्लिंग से ही बँधा रहा। इससे बाहर जानेवाले सोने से ब्रिटेन को मदद मिली, लेकिन भारतीय हितों को कोई लाभ नहीं हुआ। व्यापारी समूह भारत की आर्थिक बहाली के लिए 1 शिलिंग 4 पेंस की कम दर की माँग कर रहे थे और 1926 में गांधी और पटेल के आशीर्वाद से बंबई में एक मुद्रा लीग का गठन हुआ था। इस प्रकार, मुद्रा-संबंधी प्रश्न सरकार के विरुद्ध व्यापारियों और कांग्रेस को एक मंच पर और भी निकट ला रही थी।

### पूँजीपति वर्ग की आशंका

किंतु साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के लिए कौन-सा रास्ता अपनाया जाए, इस सवाल पर पूँजीपतियों की राय अलग-अलग थी। इसके पहले व्यापारी समूह संविधानवाद के और दबाव समूह की राजनीति के पक्ष में थे और यही कारण है कि 1920-21 के असहयोग आंदोलन से उन्होंने दूरी बनाए रखी थी। लेकिन कांग्रेस जब संविधानवाद की ओर पलटी, तो भारतीय उद्योगों के प्रतिनिधि भी स्वराज्यवादियों के और निकट आए और विधायिका में विभिन्न राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर उनसे सहयोग करने लगे, जैसे सरकार की खरीद-नीति में संशोधन, कपास पर आबकारी की समाप्ति, जापानी प्रतियोगिता से निपटने के लिए सूती मालों पर आयात-शुल्क में वृद्धि, साम्राज्यिक प्राथमिकता और मुद्रा-नीति के विरोध जैसे सवालों पर। व्यापारियों ने गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों और स्वराज्यवादियों के अभियान कोषों में भी जमकर दान दिए।<sup>17</sup> फिर भी, गांधीवादी कांग्रेस के नेतृत्व में आंदोलनों की राजनीति से अपनी किस्मत जोड़ने के बारे में कई पूँजीपति सशंकित थे।

<sup>17</sup> द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया : ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86-123, पृष्ठ 98-102।

यद्यपि 1929 की मंदी ने भारतीय व्यापारियों की हालत खराब कर रखी थी और सविनय अवज्ञा आंदोलन में भागीदारी के पक्ष में उसने एक तरह की 'जनमत की लहर' पैदा कर दी थी,<sup>18</sup> फिर भी, यह बहाव किसी भी तरह सीधा-सादा या जटिलताओं से मुक्त नहीं था। कई पूँजीपति आंदोलनों की राजनीति अभी भी भारी जोखिम का काम मानते थे, नागरिक असंतोष और बोल्शेविकवाद के लिए एक उपजाऊ जमीन समझते थे; जबकि कुछ दूसरे लोग समझते थे कि एक संवेदनहीन सरकार से रियायतें लेने का यह अंतिम अवसर है।

पूँजीपति तब बहुत खुश हुए जब नवंबर 1929 में लॉर्ड इरविन ने एक गोलमेज सम्मेलन के प्रस्ताव की घोषणा की, जिससे भारत की समस्याओं का एक संवैधानिक समाधान निकलने की आशा थी। लेकिन उनकी यह आशा शीघ्र ही कांग्रेस की हठधर्मिता के कारण चकनाचूर हो गई। जब दिसंबर 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित किया, तो व्यापारी समूहों के कान खड़े हो गए। प्रस्ताव में एक प्रावधान कर्जों के रद्द किए जाने के बारे में था और यह प्रावधान व्यापारिक समूहों को कतई पसंद नहीं था। 1928 और 1929 में गिरनी कामगार यूनियन जैसी ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में, जो कम्युनिस्ट प्रभाव में अधिकाधिक आती जा रही थीं, अनेक हड़तालें हुईं। फिर भी, भारतीय पूँजीपति साम्यवाद के डर से और मजदूरों में जारी असंतोष के खतरों के कारण साम्राज्यवाद के शरणागत नहीं हुए और कांग्रेस के साथ बने रहे। घनश्यामदास बिड़ला का स्पष्ट कहना था, "भारतीय पूँजीपति की मुक्ति प्रतिक्रियावादी ताकतों से हाथ मिलाने में नहीं है। पूँजीपति वर्ग का भला इसी में है कि वह संवैधानिक तरीके से आजादी के लिए संघर्ष करने वालों (दकियानूस राष्ट्रवादी खेमे) का हाथ मजबूत करे।" इसी प्रकार 1928 में जब सरकार ने कम्युनिस्टों के दमन के लिए सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (पब्लिक सेफ्टी बिल) तैयार किया था तो पूँजीपतियों ने उसका विरोध किया था। पूँजीपति वर्ग का कहना था कि इस कानून के माध्यम से सरकार राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करेगी।<sup>19</sup>

इस प्रकार 1930 के आरंभ तक विभिन्न कारणों से, भारतीय व्यापार-जगत के प्रायः सभी हिस्से कांग्रेस के साथ आ चुके थे। उधर कांग्रेस भी उनकी स्थिति और हितों के प्रति संवेदनशील थी। यही कारण है कि गांधी ने जब लॉर्ड इरविन के नाम ग्यारह सूत्रीय चेतावनी की घोषणा की, तो उसमें खास पूँजीपतियों की तीन माँगे थीं, जैसे 1 शिलिंग 4 पेंस की रुपया-स्टर्लिंग विनिमय दर का अनुमोदन, सूती उद्योग के लिए संरक्षण और भारतीय कंपनियों के लिए तटीय जहाजरानी का आरक्षण, लेकिन जब सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ, तो व्यापार जगत की प्रतिक्रिया एकबार फिर मिली-जुली रही। व्यापारी और सौदागर अधिक उत्साही रहे; उन्होंने धन दिए और बहिष्कार आंदोलन में भाग लिए। दूसरी ओर, मिल-मालिक परेशान रहे और उनका ठोस समर्थन भी कम ही मिला, जबकि बंबई के टाटा जैसे उद्योगपति, जो सरकारी आदेशों पर निर्भर थे, शंकाग्रस्त रहे। चूंकि पूर्ण तटस्थता आत्मघाती हो सकती थी, इसलिए फिक्की ने आंदोलन के सिद्धांतों का समर्थन किया और पुलिस-ज्यादतियों की निंदा की।

सविनय अवज्ञा के प्रति मिल-मालिकों में जो भी उत्साह-भाव था, वह सितंबर 1930 तक स्पष्ट तौर पर समाप्त हो चुका था। दरअसल पूँजीपति वर्ग सत्ता के खिलाफ लंबे समय तक आक्रामक आंदोलन को समर्थन देने में

<sup>18</sup> सुमित सरकार, 1985, ए क्रेटिक ऑफ कॉलोनियल इंडिया, पृष्ठ 95।

<sup>19</sup> बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 306।

हिचकिचाता था, क्योंकि इससे उसकी रोजमर्रा की व्यापारिक गतिविधियाँ प्रभावित होती थीं और उसे लगता था कि आंदोलन का यह रूख उसके खुद के वर्गीय अस्तित्व के लिए खतरा है। लालाजी नारायणजी ने मार्च 1930 में ही पुरुषोत्तमदास को सजग किया था कि, “इससे निजी संपत्ति को ही खतरा पैदा हो जाएगा और इस आंदोलन से व्यवस्था के प्रति असम्मान का जो भाव पैदा होगा, उसके नतीजे बहुत बुरे होंगे।” वास्तव में बढ़ते नागरिक असंतोष के कारण बड़े व्यापारियों के मन में सामाजिक क्रांति का आतंक पैदा हो गया था। अब वे लोग स्पष्ट तौर पर संविधानवाद की ओर लौटना चाहते थे। यद्यपि गांधीजी ने अनेक दूसरे कारणों से इरविन के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए, किंतु कुछ इतिहासकारों का दावा है कि उद्योगपतियों का दबाव निश्चित ही इन कारणों में से एक था, और वह भी एक महत्वपूर्ण कारण था।

फरवरी 1931 में, यानी मार्च में गांधी-इरविन समझौते पर हस्ताक्षर होने से ठीक पहले, भारत सरकार ने तैयार सूती कपड़ों पर 5 प्रतिशत शुल्क बढ़ाकर सूती मिल-मालिकों को एक बड़ी रियायत दी और वह भी इस बार लंकाशायर को प्राथमिकता दिए बिना।<sup>20</sup> लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि व्यापार जगत के नेता बिक गए। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में, जहाँ कांग्रेस का प्रतिनिधित्व गांधी और फिक्की का प्रतिनिधित्व बिड़ला और ठाकुरदास कर रहे थे, आर्थिक विषयों पर सभी वार्ताओं के दौरान फिक्की ने पक्के तौर पर गांधी के विचारों का पालन किया।<sup>21</sup> लेकिन लंदन में संवैधानिक वार्ताओं के विफल होने के बाद भी वह (फिक्की) आंदोलनों की ओर वापस नहीं लौटना चाहती थी।

यही कारण था कि कांग्रेस ने जब जनवरी 1932 में दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ किया, तो उसे उद्योग जगत का समर्थन स्पष्ट रूप से नहीं मिल सका। इस बार राजनीतिक दबाव के कारण सारे बड़े व्यापारी तीन गुटों में बँट गए: अहमदाबाद के मिल-मालिकों ने इस आंदोलन का समर्थन किया, जबकि बंबई के मिल-मालिक, कलकत्ता और दक्षिण भारत की कुछ लॉबियों के साथ इसका विरोध कर रहे थे; बिड़ला और ठाकुरदास की तरह फिक्की के कुछ प्रमुख नेता लगातार ढुलमुल बने रहे।

सरकार ने 1932 में ओटावा में एक साम्राज्यिक आर्थिक सम्मेलन की घोषणा की। इसका उद्देश्य साम्राज्य में विभिन्न उद्योगों के बीच और उनके अंदर उत्पादन में एक नए विशेषीकरण की व्यवस्था करके साम्राज्यिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना था।<sup>22</sup> आरंभ में फिक्की के नेता इस प्रश्न पर सरकार से सहयोग करने के लिए बड़े उत्साहित थे, लेकिन जब वायसरॉय विलिंगडन ने भारत से फिक्की नेताओं के बजाय अपने वफादार और दूसरे दर्जे के औद्योगिक नेताओं को भेज दिया, तो मामला बिगड़ गया। यद्यपि अगस्त 1932 के ओटावा समझौते ने भारतीय उद्योग को कुछ वास्तविक लाभ देने का वादा किया, लेकिन फिक्की और राष्ट्रवादियों ने शत्रुतापूर्ण प्रतिक्रिया के साथ उसका स्वागत किया।

<sup>20</sup> सी. मार्कोवित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931-1939, पृष्ठ 78।

<sup>21</sup> द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885-1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86-123, पृष्ठ 109।

<sup>22</sup> बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919-1939, पृष्ठ 369।



वास्तव में 1930 के दशक में भारत के बड़े व्यापारियों की राजनीतिक सोच साम्राज्य की इच्छा और राष्ट्रवाद के सवाल पर स्पष्ट रूप से बँटी हुई थी। बंबई के बड़े व्यापारी ब्रिटिश पूँजी के प्रति कुछ ज्यादा ही समझौते का रवैया अपनाने लगे थे और वे गैर-ब्रिटिश मालों के मुकाबले के लिए ब्रिटिश कंपनियों से सहयोग को प्राथमिकता देते थे। श्रम नीति के प्रश्न पर टाटा और मोदी जैसे नेता तो विदेशी पूँजी से भी सहयोग करने को तैयार थे और उन्होंने 1933 में 'इंफ्लॉयर्स फेडरेशन ऑफ इंडिया' का गठन भी कर लिया था। लेकिन यह प्रयोग बहुत आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि भारत में रह रहे अंग्रेज व्यापारी अपने भारतीय समकक्षों से सहयोग करने के प्रति कम उत्साहित थे।<sup>23</sup> मोदीजी के नेतृत्व में बंबई के सूती मिल-मालिकों ने अहमदाबाद के मिल-मालिकों के विरोध के बावजूद अक्टूबर 1933 में 'लीस-मोदी' समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते की राष्ट्रवादियों ने और बंबई के बड़े घरानों को छोड़कर सभी व्यापारी संगठनों ने निंदा की। इससे व्यापारी समुदाय में दरार और बढ़ने के साथ यह बात भी स्पष्ट हो गई कि इन व्यापारी समूहों के पास किसी सरकारी नीति को बदलवाने की शक्ति भी शायद नहीं थी। यह बात तब और स्पष्ट हो गई जब रिजर्व बैंक विधेयक पारित हुआ और व्यापार जगत के प्रतिरोध के बावजूद 1934 में चीनी पर आबकारी लगा दी गई। इन्हीं कारणों से पूँजीपतियों का एक वर्ग कांग्रेस के टकराववादी रवैये और उसकी आंदोलनों की राजनीति के बावजूद, उसके साथ संबंध बनाए रखने को विवश था। गांधीजी ने अप्रैल 1934 में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन को औपचारिक रूप से स्थगित किया, तो भारतीय व्यापार जगत ने इस निर्णय का स्वागत किया। भारतीय राजनीति में संविधानवाद की वापसी उसके लिए राहत का कारण थी।

सरकार ने वफादारी के पुरस्कार के रूप में टिस्को (टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी) के हित में असेंबली में 'इस्पात संरक्षण विधेयक' (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पारित किया और हिंद-जापान समझौते के द्वारा बंबई के कपड़ा उद्योग को लाभ पहुँचाया। इस समझौते में भारत में जापानी मालों की बिक्री के लिए कोटे की व्यवस्था थी। लेकिन जिन लोगों ने कांग्रेस का साथ दिया था, वे जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण बौखलाए हुए थे। लेकिन इस बार भी लाल खौफ के कारण पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का हाथ नहीं थामा। समाजवाद पर अंकुश लगाने के लिए पूँजीपति वर्ग ने एक बहुमुखी रणनीति अपनाई और तय किया कि कांग्रेस के दक्षिणपंथियों- 'वल्लभभाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू' को संरक्षण दिया जाए, जो बिड़ला के शब्दों में, 'साम्यवाद और समाजवाद से लड़ रहे थे और गांधी के पीछे पूरी शक्ति लगा दी जाए। गांधीवादी भी कांग्रेस पर फिर से नियंत्रण प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों का समर्थन और उनसे वित्तीय सहायता पाने के लिए बेचैन थे।

इस चरण में पूँजीपतियों का मुख्य स्वार्थ यह था कि कांग्रेस को संवैधानिक राजनीति के दायरे में रखा जाए और उसके समाजवादी पंख कतर दिए जाएं। इसके लिए वे कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति में दखल देने तक के लिए तैयार थे। 1936 के 'बंबई घोषणापत्र' ने, जिस पर बंबई के इक्कीस पूँजीपतियों के हस्ताक्षर थे, नेहरू के समाजवादी आदर्शों के प्रचार की खुली भर्त्सना की और इस प्रचार को निजी संपत्ति तथा देश की शांति और समृद्धि के लिए घातक करार दिया। यद्यपि उसे व्यापार जगत से कोई खास समर्थन नहीं मिला, लेकिन उसने कांग्रेस के

<sup>23</sup> मारिया मिश्र, 1999, बिजनेस, रेस एंड पॉलिटिक्स इन ब्रिटिश इंडिया, सी. 1850-1960, पृष्ठ 172।

अंदर भूलाभाई देसाई और गोविंदवल्लभ पंत जैसे नरमपंथियों को अवश्य मजबूत किया, जिन्होंने नेहरू पर दबाव डाला कि वे अपने समाजवादी उद्गारों को थोड़ा नरम बनाएं।

1937 के चुनावों में भाग लेने और उसके बाद पद स्वीकार करने के कांग्रेस के निर्णय ने पूँजीपतियों को उसके और करीब खींचा। बराबर बिगड़ती आर्थिक दशाओं के संदर्भ में मोदी जैसे शंकालु भी राष्ट्रवादियों के और निकट आ गए। संभवतः व्यापारिक पूँजी एक बार फिर 1937 के चुनावों में कांग्रेस की शानदार जीत का एक प्रमुख कारण रही, किंतु पार्टी पूँजीपतियों के वर्चस्व से अभी भी बहुत दूर थी। वास्तव में जब कांग्रेस ने आठ प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाए, तो श्रम (मजदूर) और पूँजी (व्यापारी) दोनों ने खुशियाँ मनाई, इसलिए पार्टी को इन दोनों के परस्पर-विरोधी हितों के बीच बराबर संतुलन बनाए रखना पड़ा। जब कांग्रेसी शासन वाले प्रांतों, खासकर मद्रास और संयुक्त प्रांत में ट्रेड यूनियन गतिविधियों और श्रमिक असंतोषों में वृद्धि हुई, तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने अपने चुनावी वादे मुताबिक श्रमिक-कल्याण कार्यक्रम लागू करने के लिए अनेक प्रस्ताव पारित किए। इससे पूँजीपति निश्चित रूप से असंतुष्ट हुए, किंतु जब प्रांतीय सरकारों ने अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए संपत्ति-कर और विक्रय-कर जैसे करों को बढ़ा दिया, तो व्यापारिक घराने एक साथ हो गए और कांग्रेस हाईकमान चिंतित हो उठा। फलतः कांग्रेस ने अपनी श्रम-नीति में परिवर्तन कर पूँजीवादी हितों को तुष्ट करने का प्रयास किया, जिसकी चरम अभिव्यक्ति नवंबर 1938 में बंबई के व्यापारिक विवाद कानून (बॉम्बे ट्रेड्स डिस्प्यूट्स ऐक्ट) के रूप में हुई। इसका उद्देश्य हड़ताल और तालाबंदी, दोनों पर रोक लगाना था। कांग्रेस की इस नई श्रम-विरोधी नीति से पूँजीपतियों का डर दूर हो गया और जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में उद्योग जगत के कुछ नेताओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। यही नहीं, जब 1938 में सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपनी पहली राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया, तो उसमें ए.डी. श्रॉफ और अंबालाल साराभाई के साथ पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और बालचंद्र हीराचंद भी शामिल हुए, जिन्होंने 1936 के उस 'बंबई घोषणापत्र' पर हस्ताक्षर किए थे, जिसमें नेहरू के समाजवादी आदर्शों की निंदा की गई थी। इसके बावजूद पूँजीपतियों के संबंध में कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है क्योंकि संयुक्त प्रांत और मद्रास के कुछ उद्योगपति अभी भी कांग्रेस के प्रति शंकाग्रस्त थे, जबकि मुस्लिम उद्योगपति कुल मिलाकर उससे विमुख ही रहे।<sup>24</sup>

वास्तव में भारतीय पूँजीपतियों ने कांग्रेस के साथ एक रणनीतिक संबंध बनाए रखा। वे राष्ट्रवाद के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे संविधानवाद को पसंद करते थे तथा विद्रोहों और क्रांतियों से डरते थे। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के आरंभ से ठीक चार दिन पहले 5 अगस्त 1942 को बंबई के ठाकुरदास, जे.आर.डी. टाटा और बिड़ला ने वायसरॉय को पत्र लिखा कि वर्तमान संकट से उबरने और एक नए सविनय अवज्ञा आंदोलन से बचने का एक मात्र तरीका यही है कि भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए। लेकिन जब स्वतंत्रता की माँग के साथ 'भारत छोड़ो' आंदोलन सचमुच शुरू हो गया, तो उसे समर्थन देने में वे काफी झिझकते रहे और उन्होंने वायसरॉय को उसका विरोध करने का आश्वासन दिया। तूफान के गुजरने के बाद वे फिर कांग्रेस की ओर झुक गए और फिर जब सत्ता के हस्तांतरण की बातचीत शुरू हुई, तो सहयोग के लिए और भी तत्पर दिखाई देने लगे।

<sup>24</sup> क्लाउड मार्कोवित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931-1939, पृष्ठ 180-81।

‘भारत छोड़ो’ आंदोलन के बाद कांग्रेस एक रूढ़िवादी नेतृत्व के अधीन आ गई, जो पूँजीपतियों से सहयोग करना और पूरी तरह संविधानवाद के दायरे में ही रहना चाहता था। समय के साथ भारतीय पूँजीपतियों ने भी यह अनुभव किया कि यदि बड़े पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल को रोकना है, तो निरंतर सुधार कार्यक्रमों को लागू करना होगा। इन्हीं सुधार-कार्यक्रमों को लागू करने के उद्देश्य से पूँजीपतियों ने 1942 में ‘आर्थिक विकास समिति’ का गठन किया। भारतीय व्यापार जगत की इस समिति ने 1944 में प्रसिद्ध ‘बंबई योजना’ तैयार किया, जिसका उद्देश्य समाजवादी आंदोलन की उन माँगों को स्वीकार करना था, जो पूँजीवाद के अस्तित्व के लिए खतरा नहीं थीं।

इस तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग समाजवाद-विरोधी और बुर्जुआ तो था, पर वह साम्राज्यवाद का समर्थक नहीं था। पूँजीपतियों द्वारा संवैधानिक गतिविधियों, जैसे विधानसभा या वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् में हिस्सेदारी का मतलब यह नहीं था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का पिट्टू हो गया था या उसके सामने आत्मसमर्पण कर चुका था। पूँजीपति वर्ग के लिए ये सब तरीके साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति विरोध जताने के लिए महज साधन थे। जहाँ तक राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस के आपसी संबंधों का सवाल है, भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस का आपसी संबंध रणनीतिक, मुद्दों पर आधारित, बल्कि व्यवहारमुखी भी रहा। राष्ट्रवाद से पूँजीपतियों की प्रतिबद्धता निश्चित ही व्यापारिक हितों से ऊपर न थी, और कांग्रेस को समर्थन तो पूरी तरह सशर्त था, किंतु वे लोग न तो अंग्रेजों के वफादार थे, न देशद्रोही। पूँजीपति वर्ग को कांग्रेस की ताकत और विभिन्न वर्गों के साथ उसके संबंधों का उसे पूरा एहसास था, इसलिए शंकाओं के बावजूद वे कांग्रेस के कार्यक्रम के अनेक पक्षों से सहमत थे।

\*\*\*\*\*